—प्रो॰ धर्मवीर

सत्यार्थ प्रकाश में

[उपनिषद् के सन्दर्भों का स्वामी दयानन्द कृत अर्थ]

० ० ० ०

(अवतीत्योम् आकाशमिव व्यापकत्वात् खम् सर्वेभ्यो बृहत्त्वात् ब्रह्म) रक्षा करने से ओम् आकाशवत् व्यापक होने से खम् और सबसे बड़ा होने से ब्रह्म ईश्वर का नाम है।

ओ३म् जिसका नाम है और जो कभी नष्ट नहीं होता उसी की उपासना करनी योग्य है अन्य की नहीं ।।२।। छान्दोग्य।छा. स. पृ. १३।

सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम ओ३म् को कहा है, अन्य सब गौणिक नाम हैं ।।३।। माण्डूक्य स. पृ० १४।

क्योंकि सब वेद, सब धर्मानुष्ठान रूपी तपश्चरण जिसका कथन और मान करते हैं और जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके ब्रह्मचर्याश्रम करते हैं उसका नाम ओ३म् है ।।४।। कठ पृ १४।

हे सन्तानो ! जो अनवद्य अनिन्दनीय अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हैं वे तुमको करने योग्य हैं अधर्म युक्त नहीं ।। तैत्ति. ।। पृ. ३५।

माता पिता आचार्य अपने सन्तान और शिष्यों को सदा सत्य उपदेश करें और यह भी कहें कि जो-जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं उन-उन का ग्रहण करो और जो-जो दुष्ट कर्म हों उनका त्याग कर दिया करो। तैत्ति०। पृ० ४७।

ब्रह्मचार्य तीन प्रकार का होता है। कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम उनमें से कनिष्ठ जो पुरुष अन्न रसमय देह और पुरि अर्थात् देह में शयन करने वाला जीवात्मा यज्ञ अर्थात् अतीव शुभ गुणों से संगत और सत्कर्त्तव्य है, इसको अवश्य है कि २४ वर्ष पर्यन्त जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर वेदादि विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करे और विवाह करके भी लम्पटता न करे तो उसके शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभ गुणों के वास करवाने वाले होते हैं।।१।।

इस प्रथम वय में जो उसको विद्याभ्यास में संतप्त करे और वह आचार्य वैसा ही उपदेश किया करे और ब्रह्मचारी ऐसा निश्चय रक्खे कि जो मैं प्रथम अवस्था में ठीक ब्रह्मचर्य से रहूंगा तो मेरा शरीर और आत्मा आरोग्य बलवान् होके शुभगुणों को बसाने वाले मेरे प्राण होंगे। हे मनुष्यों, तुम इस प्रकार से सुखों का विस्तार करो, जो मैं ब्रह्मचर्य का लोप न करूं। चौबीस वर्ष के पश्चात् गृहाश्रम करूंगा तो प्रसिद्ध है कि रोग रहित रहूंगा और आयु भी मेरी सत्तर वा अस्सी वर्ष तक रहेगी।।२।।

मध्यम ब्रह्मचर्य यह है—जो मनुष्य चौवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करता है, उसके प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और आत्मा बल युक्त होके सब दुष्टों को रुलाने और श्रेष्ठों का पालन करने हारे होते हैं ॥३॥

जो मैं इसी प्रथमवय में जैसा आप कहते हैं कुछ तपश्चर्या करूं तो मेरे ये रुद्ररूप प्राणयुक्त यह मध्यम ब्रह्मचर्य सिद्ध होगा। हे ब्रह्मचारी लोगो ! तुम इस ब्रह्मचर्य को बढ़ाओ। जैसे मैं इस ब्रह्मचर्य का लोप न करके यज्ञ स्वरूप होता हूं और उसी आचार्य कुल से आता और रोग रहित होता हूं जैसा कि यह ब्रह्मचारी अच्छा काम करता है वैसा तुम किया करो ॥४॥

उत्तम ब्रह्मचर्य अड़तालीस वर्ष पर्यन्त का तीसरे प्रकार का होता है—जैसे अड़तालीस अक्षर की जगती वैसे जो अड़तालीस वर्ष पर्यन्त यथावत् ब्रह्मचर्य करता है उसके प्राण अनुकूल होकर सकल विद्याओं का ग्रहण करते हैं ॥५॥

आचार्य और माता-पिता अपने सन्तानों को प्रथम वय में विद्या और गुण ग्रहण के लिए तपस्वी कर और उसी का उपदेश करें और वे सन्तान आप ही आप अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तमब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावें वसे तुम भी बढ़ाओ क्योंकि जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर लोप नहीं करते वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥६॥ छान्दोग्य ॥ पृ. ६०-६१ ।

ये पढ़ने पढ़ाने वालों के नियम हैं। (ऋत) यथार्थ आचारण से पढ़ें और पढ़ावें (सत्यं) सत्याचार से सत्यविद्याओं को पढ़ें और पढ़ावें। (तप०) तपस्वी अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुए वेदादि शास्त्रों को पढ़ें और पढ़ावें (दम०) बाह्य इन्द्रियों को बुरे आचरण से रोक के पढ़े और पढ़ाते जायें (शम०) अर्थात् मन की वृत्ति को सब प्रकार के दोषों से हटा के पढ़ते पढ़ाते जायें (अग्नयः) आहवनीयादि अग्नि और विद्युत् आदि को जानके पढ़ते पढ़ाते जायें और (अग्निहोत्र०) अग्निहोत्र करते हुए पठन पाठन करें करावें (अतिथय०) अतिथियों की सेवा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें (मानुषं) मनुष्य सम्बन्धी व्यवहारों को यथायोग्य करते हुए पढ़ते पढ़ाते रहें (प्रजा०) अर्थात् सन्तान और राज्य का पालन करते हुए पढ़ते पढ़ाते जायें (प्रजनन०) वीर्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए पढ़ते पढ़ाते जायें (प्रजाति०) अर्थात् अपने सन्तान और शिष्य का पालन करते हुए पढ़ते पढ़ाते जायें ॥ तत्ति. ॥ पृ० ६३ ।

आचार्य अन्तेवासी अर्थात् अपने शिष्य और शिष्याओं को इस प्रकार उपदेश करें कि तू सदा सत्य बोल, धर्माचार कर, प्रमाद रहित होके पढ़, पढ़ा, पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं को ग्रहण और आचार्य के लिए प्रिय धन देकर विवाह करके सन्तानोत्पत्ति कर, प्रमाद से सत्य को कभी मत छोड़, प्रमाद से धर्म का त्याग मत कर, प्रमाद से आरोग्य और चतुराई को मत छोड़, प्रमाद से पढ़ने और पढ़ाने को कभी मत छोड़, देव विद्वान् माता पितादि की सेवा में प्रमाद मत कर। जैसे विद्वान् का सत्कार करे उसी प्रकार माता-पिता आचार्य और अतिथि की सेवा सदा किया कर। जो आनन्दित धर्मयुक्त कर्म हैं उन सत्यभाषणादि को किया कर उनसे भिन्न मिथ्या भाषणादि कभी मत कर। जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हों उनका ग्रहण कर और जो पापाचरण हों उनको कभी मत कर। जो कोई हमारे मध्य में उत्तम

विद्वान् धर्मात्मा ब्राह्मण हैं उन्हीं के समीप बैठ और उन्हीं का विश्वास किया कर, श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना, शोभा से देना, लज्जा से देना, भय से देना, और प्रतिज्ञा से भी देना चाहिए। जब कभी तुझको कर्म वा शील तथा उपासना ज्ञान में किसी प्रकार का संशय उत्पन्न हो, तो जो वे समदर्शी पक्षपात रहित योगी अयोगी आर्द्र-चित धर्म की कामना करने वाले धर्मात्मा जन हों जैसे वे धर्ममार्ग में वर्तें वैसे तू भी उसमें वर्ता कर। यही आदेश, आज्ञा, यही उपदेश, यही वेद की उपनिषत् और यही शिक्षा है। इसी प्रकार वर्तना और अपना चाल चलन सुधारना चाहिए ।।तैत्ति०। पृ० ६८-६९।

जो शान्त विद्वान् लोग वन में तप धर्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा करके भिक्षाचरण करते हुए जंगल में बसते हैं, वे जहां नाश रहित पूर्ण पुरुष हानि लाभ रहित परमात्मा है वहां निर्मल होकर प्राण द्वार से उस परमात्मा को प्राप्त हो के आनन्दित हो जाते हैं ।।१।। मुण्डक ।। पृ० १६४।

जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको शान्ति नहीं जिसका आत्मा योगी नहीं और जिसका मन शांत नहीं है, वह संन्यास ले के भी प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता ।।कठ।। पृ० १६७।

संन्यासी बुद्धिमान् वाणी और मन को अधर्म से रोके। उनको ज्ञान और आत्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्त स्वरूप आत्मा में स्थिर करे। कठ।। पृ० १६५।

सब लौकिक भोगों को कर्म से संचित हुए देखकर ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी वैराग्य को प्राप्त होवे। क्योंकि अकृत अर्थात् न किया हुआ परमात्माकृत अर्थात् केवल कर्म से प्राप्त नहीं होता, इसलिए अर्पण के अर्थ कुछ हाथ में लेके वेदवित् और परमेश्वर को जानने वाले गुरु के पास विज्ञान के लिए जावे। जाके सब सन्देहों की निवृत्ति करे। ।।मुण्डक।। पृ० १६६।

जो अविद्या के भीतर खेल रहे, अपने को धीर और पंडित मानते हैं, वे नीच गति को जाने हारे मूढ़ जैसे अन्धे के पीछे अन्धे दुर्दशा को प्राप्त होते हैं, वैसे दुःखों को प्राप्त होते हैं ।।१।।

जो बहुधा अविद्या में रमण करने वाले बाल बुद्धि हम कृतार्थ हैं ऐसा मानते हैं, जिसको केवल कर्मकांडी लोग राग से मोहित होकर नहीं जान और जना सकते, वे आतुर होके जन्ममरण रूप दुःख में गिरे रहते हैं ।।२।। मुण्डक।। पृष्ठ १६६।

जो वेदान्त अर्थात् परमेश्वर प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चित, सन्यास योग से शुद्धान्तःकरण संन्यासी होते हैं, वे परमेश्वर में मुक्ति सुख को प्राप्त हो, भोग के पश्चात् जब मुक्ति में सुख की अवधि पूरी हो जाती है तब वहां से छूटकर संसार में आते हैं ।।मुण्डक।। पृ० १६७।

जो देहधारी है वह सुख दुःख की प्राप्ति से पृथक् कभी नहीं रह सकता और जो शरीर रहित जीवात्मा मुक्ति में सर्वव्यापक परमेश्वर के साथ शुद्ध होकर रहता है तब उसको सांसारिक सुख दुःख प्राप्त नहीं होता ।।छान्दोग्य।। पृ० १६७।

जिस पुरुष के समाधि योग से अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं, आत्मस्थ होकर

परमात्मा में चित्त जिसने लगाया है, उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है, वह वाणी से कहा नहीं जा सकता क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है ।।······।। पृ० २५० ।

परमेश्वर को हाथ नहीं परन्तु अपनी शक्ति रूप हाथ से सबका रचन, ग्रहण करता, पग नहीं परन्तु व्यापक होने से सबसे अधिक वेगवान्, चक्षु का गोलक नहीं परन्तु सबको यथावत् देखता, श्रोत्र नहीं परन्तु सबकी बातें सुनता अंतःकरण नहीं परन्तु सब जगत् को जानता है, और उसको अवधि सहित जानने वाला कोई भी नहीं उसी को सनातन, सबसे श्रेष्ठ सबमें पूर्ण होने से पुरुष कहते हैं। वह इन्द्रियों और अन्तःकरण के बिना अपने सब काम अपने सामर्थ्य से करता है । पृ० २५० ।

परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य्य और उसको करण अर्थात् साधकतम दूसरा अपेक्षित नहीं। न कोई उसके तुल्य और न अधिक है । सर्वोत्तम शक्ति अर्थात् जिसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त बल और अनन्त क्रिया है, वह स्वाभाविक अर्थात् सहज उसमें सुनी जाती है । जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय न कर सकता । इसलिए वह विभु तथापि चेतन होने से उसमें क्रिया भी है ।। ······।। पृ० २५३ ।

जो जन्मरहित सत्त्व, रज, तमोगुणरूप प्रकृति है, वही स्वरूपाकार से बहुत प्रजारूप हो जाती है ।।श्वेताश्वर।। पृ० २५५ ।

वह परमात्मा जानने योग्य है । जो यह अत्यन्त सूक्ष्म और इस सब जगत् और जीव का आत्मा है । वही सत्यस्वरूप और अपना आत्मा आप ही है । हे श्वेतकेतो प्रियपुत्र ! उस परमात्मा अन्तर्यामी से तू युक्त है ।।छान्दोग्य।। पृ० ६३ ।

हे मैत्रेयी, जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है, जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है. जिस परमेश्वर का जीवात्मा शरीर अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक है जीवात्मा से भिन्न रहकर जीव के पाप पुण्यों का साक्षी होकर उनके फल जीवों को देकर नियम में रखता है । वही अविनाशी स्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है, उसको तू जान ।। बृहदारण्यक ।। पृ० २६३-६४ ।

······किन्तु जो जीव परमेश्वर का निषेध वा किसी एक देश काल में परिच्छिन्न परमात्मा को माने वा उसकी आज्ञा और गुणकर्म स्वभाव से विरूद्ध होवे अथवा किसी दूसरे मनुष्य से वैर करे उसको भय प्राप्त होता है ।।बृहदारण्यक।। पृ० २७० ।

जिस परमात्मा की रचना से ये सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं जिससे जीते और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं, वह ब्रह्म है । उसके जानने की इच्छा करो। तैत्ति० ।' पृ० २८१ ।

प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं । इनका कारण कोई नहीं । इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फंसता है और उसमें परमात्मा न फँसता और न उसका भोग करता है ।। पृ० २८४ ।

हे श्वेतकेतो अन्नरूप पृथिवी कार्य से जलरूप मूलकारण को तू जान। कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल और तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है उसको जान। यही सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है ॥ छान्दोग्य ॥ पृ० २८५।

हे जीव तू उस ब्रह्म की उपासना कर, जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और जीवन होता है, जिसके बनाने और धारण से यह सब जगत् विद्यमान हुआ है वा ब्रह्म से सहचरित है, उसको छोड़ दूसरे की उपासना न करनी। इस चेतन मात्र अखण्डैक रस ब्रह्म स्वरूप में नाना वस्तुओं का मेल नहीं है किन्तु ये सब पृथक्-पृथक् स्वरूप में परमेश्वर के आधार में स्थित हैं ॥ पृ० २८६।

जैसे मकड़ी बाहर से कोई पदार्थ नहीं लेती अपने ही में से तन्तु निकाल जाला बनाकर आप ही उसमें खेलती है वैसे ब्रह्म अपने में से जगत् को बना आप जगदाधार बन आप ही क्रीडा कर रहा है। सो ब्रह्म इच्छा और कामना करता हुआ कि मैं बहुरूप अर्थात् जगदाकार हो जाऊँ, संकल्पमात्र से सब जगद्रूप बन गया ॥ पृ० २८७।

उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश अवकाश अर्थात् जो कारण रूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहर सकें ? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से औषधि, औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है ॥ छान्दोग्य ॥ पृ० ३००।

अनादि नित्यस्वरूप सत्त्व, रजस् और तमोगुणों की एक अवस्था रूप प्रकृति से उत्पन्न जो परमसूक्ष्म पृथक्-पृथक् तत्त्वावयव विद्यमान हैं उन्हीं का प्रथम हो जो संयोग का आरम्भ है, संयोग विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी, दूसरी अवस्था को सूक्ष्म, सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से बनते बनाते विचित्र रूप बनी है। इसी से यह संसर्ग होने से सृष्टि कहाती है ॥ पृ० ३०२।

जब शुद्ध मन युक्त पाँच ज्ञानेन्द्रिय जीव के साथ रहती हैं और बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है उसको परम गति अर्थात् मोक्ष कहते हैं ॥ पृ० ३२७-२८।

जो परमात्मा अपहतपाप्मा सर्व पाप, जरा, मृत्यु शोक, क्षुधा, पिपासा से रहित सत्यकाम सत्य संकल्प है, उसकी खोज और उसी को जानने की इच्छा करनी चाहिए। जिस परमात्मा के सम्बन्ध से युक्त जीव सब लोकों और सब कामों को प्राप्त होता है जो परमात्मा को जान के मोक्ष के साधन और अपने को शुद्ध करना जानता है सो यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध दिव्य नेत्र और शुद्ध मन से कामों को देखता, प्राप्त होता हुआ रमण करता है।

जो ये ब्रह्मलोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा में स्थिर होके मोक्ष सुख को भोगते हैं और इसी परमात्मा का जो कि सबका अन्तर्यामी आत्मा है उसकी उपासना मुक्ति की प्राप्ति करने वाले विद्वान् लोग करते हैं। उससे उनको सब लोक और सब काम प्राप्त होते हैं अर्थात् जो-जो संकल्प करते हैं वह-वह लोक और वह-वह काम प्राप्त होता हैं और वे मुक्त जीव स्थूल शरीर जोड़कर संकल्पमय शरीर से आकाश में

परमेश्वर में विचरते हैं। क्योंकि जो शरीर वाले होते हैं वे सांसारिक दुःखों से रहित नहीं हो सकते।

जैसे इन्द्र से प्रजापति ने कहा है कि हे परमपूजित धनयुक्त पुरुष! यह स्थूल शरीर मरणधर्मा है और जैसे सिंह के मुख में बकरी होवे वैसे यह शरीर मृत्यु के मुख के बीच है। सो शरीर इस मरण और शरीर रहित जीवात्मा का निवास स्थान है।

इसीलिए यह जीव सुख और दुःख से सदा ग्रस्त रहता है क्योंकि शरीर सहित जीव की सांसारिक प्रसन्नता की निवृत्ति होती ही है और जो शरीर रहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है उसको सांसारिक सुख दुःख का स्पर्श भी नहीं होता किन्तु सदा आनन्द में रहता है॥ छान्दोग्य॥ पृ० ३२७-२८।

वे मुक्त जीव मुक्ति में प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोग के पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्ति सुख को छोड़ के संसार में आते हैं।

॥मुण्डक॥ पृ० ३३१।

जब इस जीव के हृदय की अविद्या अज्ञानरूपी गाँठ कट जाती है सब संशय छिन्न होते और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं तभी उस परमात्मा जो कि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप रहा है, उसमें निवास करता है॥१॥ मुण्डक॥ पृ० ३४५।

जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त आनन्द स्वरूप परमात्मा को जानता है वह उस व्यापक रूप ब्रह्म में स्थित होके उस "विपश्चित्" अनन्त विद्यायुक्त ब्रह्म के साथ सब कामों को प्राप्त होता है। अर्थात् जिस-जिस आनन्द की कामना करता है उन-उन कामों को प्राप्त होता है यही मुक्ति कहाती है॥ तैत्तिरीय॥ पृ० ३४६।

माता पिता आचार्य और अतिथि की सेवा करना देवपूजा कहाती है॥ तैत्तिरीय॥ पृ० ३६२।

सृष्टि से लेकर महाभारत पर्यन्त चक्रवर्ती सार्वभौम राजा आर्य्यकुल में ही हुए थे॥ मैत्र्युपनिषद्॥ पृ० ३८१॥